फरवरी १९९४ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

धम्मवाणी

नाभिनन्दामि मरणं, नाभिनन्दामि जीवितं।
निक्खिपिस्सं इमं कायं, सम्पजानो पटिस्सतो॥
– थेरगाथा, सारिपुत्त थेर ५४

– मैं न मृत्यु का अभिनंदन करता हूं, न जीवित रहने का अभिनंदन करता हूं। [जब समय आयेगा] स्मृति और संप्रज्ञान सहित मैं इस शरीर को छोड़ दूंगा।

आत्म-कथन

सत्तर वर्ष पूरे हुए

जीवन ने सत्तर शरद देख लिये। और न जाने कितने बचे हैं। जो बचे हैं, उनका कैसे सदुपयोग हो? यही सजगता बनी रहे।

इस अवसर पर कल्याणी भगवद्-वाणी के कुछ बोल मानस में उभरते हैं। प्रसंग है श्रावस्ती का, अनाथपिंडक के जेतवनाराम का। समय है रात्रि का। कोई देवपुत्र भगवान से मिलने आया है। वह भगवान के सामने चार चरण की एक गाथा में अपने विचार प्रगट करता है –

अच्चेन्ति काला, तरयन्ति रत्तियो

– समय बीतता जा रहा है, रातें सरकती जा रही हैं।

वयोगुणा अनुपुब्बं जहन्ति

– उम्र क्रमशः खत्म होती जा रही है।

एतं भयं मरणे पेक्खमानो

– [आने वाली] मृत्यु के उस भय को देखते हुए,

पुञ्ञानि कयिराथ सुखावहानि

– सुखद फल देने वाले पुण्यों का संपादन करो।

कहने वाले ने ठीक ही कहा। सचमुच –

सुबह होती है, शाम होती है।
उम्र यों ही तमाम होती है ॥

कहीं यह अनमोल मानवी जीवन यों ही व्यर्थ खत्म न हो जाय। भले आने वाली मृत्यु के भय से ही सही, पर सुखद फलदायी पुण्यकर्मों में ही लगें। पाप कर्मों का संपादन करेंगे, तो फलस्वरूप दुःखों का सामना करना होगा। पुण्य कर्मों का संपादन करेंगे, तो फलस्वरूप सुखों का सामना करेंगे। प्रकृति का यह अटूट नियम है। अतः पापकर्मों की अपेक्षा पुण्यकर्मों का संपादन उचित है। अकुशल की अपेक्षा कुशल का संपादन समीचीन है। दुःखों से बचने के लिए, सुख भोगने के लिए।

परंतु इस सदा बदलते रहने वाले सुख-दुःख, दुःख-सुख के लोकचक्र में न जाने कबसे पिसते चले आ रहे हैं और यह सांसारिक सुख-दुःख का भव-भ्रमण आगे न जाने कब तक यों ही चलता रहेगा? भगवान ने इस भव-संसरण से सर्वथा विमुक्त हो जाने का सहज, सरल मार्ग ढूंढ निकाला। उसे सब के लिए सुलभ बनाया। लोगों को मुक्तिदायिनी विपश्यना विद्या सिखाई, जिसके अभ्यास से भव-मुक्त होकर इन अनित्यधर्मा, लोकिय सुखों से कहीं श्रेष्ठ, नित्य, शाश्वत **निब्बानं परमं सुखं** यानि निर्वाण का परम सुख प्राप्त कर सकें, परम शांति उपलब्ध कर सकें। परंतु यह तभी संभव है, जबकि लोकिय सुख-भोग के पीछे बेतहाशा दौड़ लगाने वाली अभीप्सा का स्वभाव टूटे। और विपश्यना यही कराती है। अंतर्मन की गहराइयों में राग-द्वेष के संस्कारों को प्रजनन करते रहने का स्वभाव तोड़ती है। सुख के प्रति राग और दुःख के प्रति द्वेष के संस्कारों का उत्खनन करती है। अंध-प्रतिक्रिया के दीर्घकालीन स्वभाव का उन्मूलन करती है। जब तक लोकिय सुखों के प्रति राग रहेगा, तब तक लोकिय दुःखों के प्रति द्वेष भी जागता ही रहेगा और इन दोनों के कारण लोकचक्र चलायमान ही चलायमान रहेगा। लोकचक्र टूटेगा तो ही लोकातीत, भवातीत, इंद्रियातीत परम शांति की उपलब्धि होगी। इसी हेतु भगवान ने विपश्यना की कल्याणकारिणी साधना सिखाई।

इसी ओर इंगित करते हुए भगवान ने चार चरण की उपरोक्त गाथा सुन कर उसके चौथे चरण को बदलते हुए कहा –

लोकामिसं पजहे सन्तिपेक्खो

– परम शांति की अपेक्षा रखने वाले को चाहिए कि वह लोकिय सुख की अभीप्सा त्यागे।

विपश्यना साधना के गहन अभ्यास से ही यह अभीप्सा छूटती है। यह अभ्यास करते हुए साधक को सामने आ रही मृत्यु के प्रति सजगता अवश्य बनाये रखनी चाहिए, परंतु मृत्यु का भय रंचमात्र भी न रहे। मृत्यु चाहे जब आये, हमें प्रसन्न चित्त से उसके लिए सतत तैयार रहना चाहिए।

विपश्यी साधक को जीवन के किसी भी जन्म-दिवस के पड़ाव पर एक दृष्टि अतीत पर डाल कर अवश्य देख लेना चाहिए। अब तक के जीवन में जो भूलें हुई हैं, वह भविष्य में न हों, इसका पुनः दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए। जो सत्कर्म अब तक किये हैं, उन्हें शेष जीवन में भी करते रहने के लिए कृत-संकल्प हो जाना चाहिए। सबसे महत्वपूर्ण सत्कर्म तो मुक्तिदायिनी भगवती विपश्यना का अभ्यास ही है। वह छूटने न पाये। सतत चलता रहे। आज के अभ्यास को कल पर न टालें। भगवान के यह बोल कानों में सदा चेतावनी की तरह गूंजते रहें –

अज्जेव किच्चमातप्पं

–तपने का काम आज ही करो। [उसे कल पर मत टालो।]

कोजञ्ञा मरणं सुवे

– कौन जाने कल सुबह ही मरना हो।

मृत्यु को आमंत्रित करने की आवश्यकता नहीं है, परंतु वह आती है तो उससे भयभीत होने की भी आवश्यकता नहीं है। हम उसके लिए हर समय तैयार रहें।

हमें समय-समय पर **मरणानुसति** का अभ्यास करते रहना चाहिए। मैंने अपने अनुभव से देखा है कि यह अत्यंत लाभदायी होता है। ऐसा करते हुए कभी-कभीअपने मानस की जांच कर देख लेना चाहिए कि यदि कल सुबह ही मृत्यु होगी, तो इस जीवन के अंतिम क्षण की कैसी अवस्था होगी? क्या कोई अभीप्सा तो साथ नहीं लगी रहेगी, भले ही वह धर्म-कार्य पूरा करने की ही अभीप्सा क्यों न हो? अथवा जब कभी कोई भावावेश का संस्कार मन में जागे, तो तुरंत **मरणानुसति** करते हुए देखना चाहिए कि यदि अगले ही क्षण मेरी मृत्यु हो जाय, तो यह भावावेश इस भव-धारा को कैसा भयावह मोड़ दे देगा? यह होश जागते ही भावावेश से छुटकारा पाना आसान हो जाता है।

समय-समय पर मृत्यु का रिहर्सल करने का एक लाभ यह भी होता है। मानस यह सोचता है, न जाने कितने जन्मों से भव-संसरण करते आ रहा हूं। इस बार किसी पुण्य के कारण मानव का अनमोल जीवन मिला है। शुद्ध धर्म से संसर्ग हुआ है। थोथे कर्मकांडों और निकम्मी, निरर्थक दार्शनिक मान्यताओं से तथा सांप्रदायिक बाड़े-बंदी से मुक्त, शुद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा जागी है। तो इससे मैंने क्या लाभ उठाया है? इसका लेखा-जोखा सामने आता है, तो जो कमी रह गई, उसे पूरा करने का उत्साह जागता है। मृत्यु कल सुबह ही आयेगी या सौ शरद पूरे करके आयेगी, मैं नहीं जानता। परंतु जितने दिन जीना है, बड़े प्रसन्न चित्त से अपनी पुण्य-पारमिताओं को पूरा करने में लगा रहूं और मानवी जीवन को सार्थक बनालूं। परिणाम जो आये सो आये, जब आये तब आये। उसे धर्म पर छोड़ूं। अपनी ओर से यथाशक्ति इस महत्वपूर्ण जीवन के बचे हुए समय का अच्छे से अच्छा सदुपयोग करता रहूं। इस निमित्त प्रेरणामयी भगवद्-वाणी का यह उद्बोधन सदा साथ रहे –

उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य धम्मं सुचरितं चरे ॥

–उठो, बिना प्रमाद के भली प्रकार धर्माचरण में लग जाओ।

और लगा ही रहूं धर्माचरण में। परिणाम स्वतः मंगलमय आयेंगे।

मंगलमित्र,
स. ना. गो.